श्रीवासुदेवशरण अग्रवाल
काशी विश्वविद्यालय

पुरुष प्रजापति

भगवान् वेदव्यास का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वचन है, जो उनके समस्त ज्ञान-विज्ञान का मथा हुआ मक्खन कहा जा सकता है. उन्होंने लिखा है :

'गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि न हि मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किञ्चित्'.

जो गुह्य तत्त्वज्ञान है, जो अव्यक्त ब्रह्म के समान सर्वोपरि और सर्वव्याप्त अनुभव है, वह मैं तुम से कहता हूं—मनुष्य से श्रेष्ठ और कुछ नहीं है. सचमुच अनन्त शाखा-प्रशाखाओं के वेद का गुह्य संदेश यही है कि प्रजापति की सृष्टि में मनुष्य प्रजापति के निकटतम है. शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट शब्दों में कहा है :

पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्—शत० ४. ३. ४. ३.

पुरुष प्रजापति के निकटतम है. निकटतम का तात्पर्य यही कि वह प्रजापति की सच्ची प्रतिमा है, प्रजापति का तद्वत् रूप है. प्रजापति और उसके बीचमें ही ऐसा सान्निध्य और घनिष्ठ सम्बन्ध है, जैसा प्रतिरूप अर्थात् असल रूप और अनुकृति में होता है. प्रजापति मूल है, तो पुरुष उसकी ठीक प्रतिकृति है, प्रजापति के रूप में देखना और समझना चाहें तो उसके सारे नक्शे को इस पुरुष में देख और समझ सकते हैं. सत्य तो यह है कि पुरुष प्रजापति के इतना नेदिष्ठ या निकटतम या अंतरंग है कि विचार करने पर यही अनुभव होता है और यही मुंह से निकल पड़ता है कि पुरुष प्रजापति ही है :

पुरुषः प्रजापतिः—शत० ६. २. १. २३.

जो प्रजापति के स्वरूप का ठाट या मानचित्र है, हूबहू वही पुरुष में आया है. इसलिए यदि सूत्र रूप में पुरुष के स्वरूप की परिभाषा बनाना चाहें, तो वैदिक शब्दों में कह सकते हैं :

प्राजापत्यो वै पुरुषः—तैत्ति० २. १. ५. ३.

किन्तु यहाँ एक प्रश्न होता है. पुरुष साढ़े तीन हाथ परिमाण के शरीर में सीमित है, जिसे बाद के कवियों ने :

अहुठ हाथ तन सरवर, हिया कंवल तेहि मांह.

इस रूप में कहा है, अर्थात् साढ़े तीन हाथ का शरीर एक सरोवर के समान है, जो जीवन रूपी जल से भरा हुआ है, और जिसमें हृदयरूपी कमल खिला हुआ है. जिस प्रकार कमल सूर्य के दर्शन से, सहस्त्ररश्मि सूर्य के आलोक से विकसित होता या खिलता है, उसी प्रकार पुरुष रूपी यह प्रजापति उस विश्वात्मा महाप्रजापति के आलोक से विकसित और अनुप्राणित है. प्रजापति आतप है. तो यह पुरुष उसकी छाया है. जब तक प्रजापति के साथ यह सम्बन्ध दृढ़ है, तभी तक पुरुष का जीवन है. प्रजापति के बल का ग्रंथिबन्धन ही पुरुष या मानव के हृदय की शक्ति है. जो समस्त विश्व में फैला हुआ है, विश्व जिसमें प्रतिष्ठित है और जो विश्व में ओतप्रोत है, उस महाप्रजापति को वैदिक भाषा में संकेत रूप से 'सहस्र' कहा जाता है. वह सहस्रात्मा प्रजापति ही वैदिक परिभाषा में 'वन' भी कहलाता है. उस अनन्तानन्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'वन' के भीतर एक-एक विश्व एक-एक अश्वत्थ वृक्ष के समान है. इस प्रकार के अनन्त अश्वत्थ उस सहस्रात्मा 'वन' नामक प्रजापति में हैं. उसके केन्द्र की जो धारा सृष्ट्युन्मुख होकर प्रवृत्त होती है, उसी मूलकेन्द्र से केन्द्रपरम्परा विकसित होती हुई पुरुष तक आती है. केन्द्रों के इस वितान में पूर्वकेन्द्र की प्रतिमा या प्रतिबिम्ब उत्तर के केन्द्र में आता है. इस प्रकार जो सहस्रात्मा प्रजापति है, वही मूल से तूल में आता हुआ ठीक-ठीक अपने सम्पूर्ण स्वरूप के साथ इस पुरुष में अवतीर्ण होता है और हो रहा है. वैदिक महर्षियों ने ध्यान योग्यतानुगत हो कर उस महान् तत्त्व का साक्षात्कार किया और सृष्टिपरम्परा का विचार करते हुए उन्हें यह साक्षात् अनुभव हुआ कि यह जो पुरुष है, वह इसी सहस्रात्मा प्रजापति की सच्ची प्रतिमा है—**पुरुषो वै सहस्रस्य प्रतिमा**—शत० ७. ५. २. १७.

जो सहस्र प्रजापति है, उसी के अनन्त अव्यक्त स्वरूप में किन्हीं अचिन्त्य अप्रतर्क्य बलों के संघर्षण से या ग्रन्थिबन्धन से या स्पन्दन से सृष्टि की प्रक्रिया प्रवृत्त होती है. किसी भी प्रकार की शक्ति या वेग हो, उसके लिये बलग्रन्थि आवश्यक है. विना बलग्रन्थि के अव्यक्त व्यक्तभाव में, अमूर्त्त मूर्त्तरूप में आ ही नहीं सकता. शुद्ध रसरूप प्रजापति में अमित-भाव की प्रधानता है, उसमें जब तक मितभाव का उदय न हो, तब तक सृष्टि की सम्भावना नहीं होती. प्रजापति के केन्द्र से जिस रस का वितान या विस्तार होता है, वह यदि बाहर की ओर ही फैलता जाये तो कोई ग्रन्थि-सृष्टि संभव नहीं. वह इस परिधि की ओर फैल कर जब बल के रूप केन्द्र की ओर लौटता है. तब द्विविरुद्ध भावों की टक्कर से स्थिति और गति या गति और आगतिरूप स्पन्दन का चक्र जन्म लेता है. स्पन्दन का नाम प्रजापति है. स्पन्दन को वैदिक परिभाषा में छन्द कहते हैं. जो छन्द है, वही प्रजापति है. किसी भी प्रकार की फड़कन का नाम छन्द है. सारे विश्व में द्विविरुद्ध भाव से समुत्पन्न जहाँ-जहाँ छन्द या फड़कन है, वही प्रजापति के स्वरूप का तारतम्य दृष्टिगोचर होता है. अतएव एक महान् सत्य सूत्ररूप में इस प्रकार व्यक्त किया गया :

'प्रजापतिरेव छन्दो भवत्'—शत० ८. २. ३. १०.

सृष्टि की महती प्रक्रिया में अनेक लोकों में अनेक स्तरों पर प्रजापति के इस छन्द की अभिव्यक्ति हो रही है. उसी छन्दो-वितान में सहस्रात्मा प्रजापति पुरुषरूप में अभिव्यक्त होता है. सूर्य भी उसी केन्द्रपरम्परा का एक बिन्दु है. ऐसे पूर्वयुग की कल्पना करें, जब सब कुछ तमोभूत था, अलक्षण था, और अप्रज्ञात था. उस समय रस और बल के तारतम्य से जो शक्ति का संघर्षण होने लगा, संघर्षण उसी के फलस्वरूप ज्योतिष्मान् महान् आदित्यों का जन्म हुआ. वैज्ञानिक भाषा में इसी को यों सोचा और कहा जा सकता है कि आरम्भ में शक्ति के समान वितरण के फलस्वरूप एक शान्त समुद्र भरा हुआ था. शक्ति के उस शान्त सागर में न कोइ तरंग थी, न क्षोभ था. किन्तु न जाने कहाँ से, कैसे, क्यों और कब उसमें तरंगों का स्पन्दन आरम्भ हुआ और उस संघर्ष के फलस्वरूप जो शक्ति समरूप में फैली हुई थी उसमें केन्द्र या बिन्दु उत्पन्न होने लगे, जो कि प्रकाश और तेज के पुञ्ज बन गए. इस प्रकार के न जाने कितने सूर्य शक्ति की उस प्राक्का-लीन गर्भित अवस्था में उत्पन्न हुए. वैदिकभाषा में व्यक्त की संज्ञा हिरण्य है, अव्यक्त अवस्था हिरण्यगर्भ अवस्था थी. समभाव से वितरित शक्ति की पूर्वावस्था वही हिरण्यगर्भ अवस्था थी, जिसमें यह व्यक्त हिरण्यभाव समाया हुआ था. आगे का व्यक्तभाव उसी के पूर्व अव्यक्त में लीन था. यदि सदा काल तक शक्ति की वही साम्यावस्था बनी रहती तो किसी प्रकार का व्यक्तभाव उत्पन्न ही न होता. शक्ति के वैषम्य से ही महान् आदित्य जैसे केन्द्र या बिन्दु उस शान्तशक्ति समुद्र में उत्पन्न होने लगे. पहली शान्त अवस्था के लिये वेद में संयती शब्द है और दूसरी व्यक्तभावापन्न क्षुब्ध अवस्था के लिये क्रन्दसी शब्द है, संयती शान्त आत्मा है. क्रन्दसी क्षुभित आत्मा है. शक्ति के उस समुद्र में जो क्षुभित केन्द्र उत्पन्न हुए, उन्हीं की संज्ञा सूर्य हुई. हमारे सौर-मण्डल का सूर्य भी उन्हीं में से एक है. प्रत्येक आदित्य या सूर्य सहस्रात्मा प्रजापति की प्रतिमा है और वह भी ऐसी प्रतिमा है जो विश्वरूपी है, जिसमें सब रूपों की समष्टि है, जिसके मूलकेन्द्र से सब रूपों का निर्माण होता है. उसी के लिये कहा है :

आदित्यं गर्भं पयसा समङ्ग्धि सहस्रस्य प्रतिमां श्विवरूपम्. —यजुः १३.४१.

शक्ति के शान्त महासमुद्र में जो आदित्य उत्पन्न हुआ, वह प्रजापति का शिशुरूप था. उसके पोषण के लिये पय या दुग्ध

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की आवश्यकता थी. यह कौन-सा पय था, किसने उस आदित्य को पुष्ट किया ? ब्राह्मणों की परिभाषा के अनुसार प्राण ही वह पय या दुग्ध है, जिससे आदित्यरूप उस शिशु का संवर्धन होता है. विराट् प्रकृति में सौरप्राणात्मक स्पन्दन या प्राणनक्रिया के द्वारा ही वह विश्वरूप आदित्य जीवनयुक्त है अर्थात्—स्वस्वरूप में स्थित है. वह अपने से पूर्व की कारण-परम्पराओं का पूर्णतम प्रतिनिधि है. इसीलिए उसे सहस्र की प्रतिमा कहा गया है. हमारा जो दृश्यमान सूर्य है, वह उन्हीं महान् आदित्यों की केन्द्र-परम्परा में एक विशिष्ट केन्द्र है अथवा उनकी तुलना में यह शिशुमात्र है. इसीलिए वैदिक-भाषा में : 'द्रप्सश्चस्कन्द'.

कहा जाता है. अर्थात् शक्ति के उस पारावार-हीन महासमुद्र में जो शक्ति का प्रज्वलित केन्द्र उत्पन्न हुआ, वह इस प्रकार था, जैसे बड़े समुद्र से एक जलबिन्दु चू पड़ा हो. वह महासमुद्र जो कि वाष्परूप में था अथवा अव्यक्त था उसी में से यह एक द्रप्स या बिन्दु व्यक्तभाव को प्राप्त हो गया है. यही वैदिक काव्य की भाषा है और विज्ञान की भाषा है. सब प्रकार की सीमाओं से ऊपर, सब प्रकार के गणितीय निर्देशों से परे जो शक्ति तत्त्व है, जहां किसी प्रकार के अंकों का संस्पर्श नहीं होता, जिसके लिये शून्य या पूर्ण ही एकमात्र प्रतीक है, उस अनन्त संजक पूर्ण में से यह प्रत्यक्ष आदित्यरूपी एक बिन्दु प्रकट हुआ है और इसकी संज्ञा भी पूर्ण है. वह अदस् है, यह इदम् है. वह भी पूर्ण है, यह भी पूर्ण है. इस प्रकार की रहस्यमयी भाषा सृष्टि से प्राक्कालीन अचिन्त्य और अव्यक्त तत्त्वों के लिये विज्ञान और वेद दोनों में समानरूप से प्रयुक्त होती है.

प्रकृत में हमारा लक्ष्य इसी पर है कि उस अनंत प्रजापति के छन्द से ही पुरुष का निर्माण हुआ है. उस सहस्रात्मा प्रजापति की साक्षात् प्रतिमा पुरुष या मानव है. रस और बल के तारतम्य से पुरुष, अश्व, गौ, अज, अवि ये पाँच मुख्य पशु प्रकृति में प्राणदेवताओं के प्रतिनिधिरूप से चुन लिए गए हैं, यद्यपि समस्त पशुओं की संख्या अनन्तानन्त है. वैदिक परिभाषा के अनुसार जो भूतसृष्टि है, उसी की संज्ञा पशु या प्रजा है. यह भूतसृष्टि तीन प्रकार की है :

१. असंज्ञ—जैसे पाषाण आदि. २. अन्तःसंज्ञ—जैसे वृक्ष आदि, ३. ससंज्ञ—जैसे पुरुष,पशु आदि.

इन तीनों में यह प्रातिस्विक भेद क्यों है ? यह पृथक् विचार का विषय है, संक्षेप में असंज्ञ सृष्टि में केवल अर्थमात्रा की अभिव्यक्ति है. अन्तःसंज्ञ सृष्टि में अर्थमात्रा और प्राणमात्रा दोनों की अभिव्यक्ति है, और ससंज्ञ प्राणियों में अर्थ या भूतमात्रा, प्राणमात्रा एवं मनोमात्रा—इन तीनों की अभिव्यक्ति होती है. इन्हें ही भूतात्मा, प्राणात्मा और प्रज्ञानात्मा भी कहते हैं. प्रज्ञानात्मक जो सौर प्राण है, उसे ही इन्द्र कहते हैं. मानव या मनुष्य में इस सौर इन्द्रतत्त्व की सबसे अधिक अभिव्यक्ति है. अन्तःसंज्ञ वृक्ष वनस्पतियों में वह प्रज्ञानात्मा इन्द्र मूर्छित रहता है. उनमें केवल प्राणात्मा या तैजस आत्मा का विकास होता है. जहाँ तेज या प्राण है, वहीं विकास है. बीज जब पृथ्वी में जल, मिट्टी एवं पृथिवी की उष्णता के सम्पर्क में आता है, तत्क्षण उसमें विकास की प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है. अतएव उपनिषदों में कहा गया है कि जो तैजस आत्मा है वह वृक्ष-वनस्पतियों में भी है, किन्तु प्रज्ञानात्मा का विकास केवल मानव में होता है. इस दृष्टि से मानव समस्त विश्व में अपना विशिष्ट स्थान रखता है जिस प्रकार प्रजा-पति वाक्, प्राण, मन की समष्टि है, वैसे ही मानव भी वाक्, प्राण और मन तीनों की समष्टि का नाम है. अर्थ या स्थूल भूतमात्रा को वैदिक परिभाषा में वाक् कहते है. पंचभूतों में आकाश सबसे सूक्ष्म होने के कारण सबका प्रतीक है और वाक् आकाश का गुण है. अतएव वाक् से उपलक्षित स्थूल भूतमात्रा या अर्थमात्रा का ग्रहण किया जाता है. मानव का शरीर यही भाग है. इसके भीतर क्रिया रूप प्राणात्मा का निवास है और उसके भी अभ्यन्तर में मनोमय प्रज्ञानात्मा का निवास है. मन की ही संज्ञा प्रज्ञान है.

इस प्रकार प्रजापति और मानव इन दोनों में रूप-प्रतिरूप या बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव का सम्बन्ध है. पुरुष प्रजापति की सच्ची प्रतिमा है, इसका यह अर्थ भी है कि जिस प्रकार प्रजापति त्रिपुरुष पुरुष है, उसी प्रकार यह मनुष्य भी है. त्रिपुरुषपुरुष का तात्पर्य यह है कि प्रजापति नामक संस्थाका निर्माण अव्यय, अक्षर और क्षर इन तीन तत्त्वों की समष्टि के रूप में होता है. इनमें से अव्यय दोनों का आलम्बन या प्रतिष्ठारूप धरातल है. अक्षर निमित्ति है और क्षर उपादान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है. अव्यय प्रजापति से मन, अक्षर से प्राण और क्षर से शरीरभाग का निर्माण होता है. इस प्रकार जो प्रजापति है वही पुरुष है और पुरुष को प्राजापत्य कहना सर्वथा समीचीन है.

वैदिक दृष्टि के अनुसार पुरुष दीन-हीन दासानुदास या शरणागत प्राणी नहीं है. वह है प्रजापति के निकटतम उसकी साक्षात् प्रतिमा. सहस्रात्मा प्रजापति का जो केन्द्र था, उसी की परम्परा में पुरुष-प्रजापति के केन्द्र का भी विकास होता है. जो सहस्र के केन्द्र की महिमा थी, वही पुरुष के केन्द्र की भी है. सहस्रात्मा वनसंज्ञक प्रजापति का केन्द्र प्रत्येक अश्वत्थ-संज्ञक प्रजापति में होता है, और वही विकसित होता हुआ प्रत्येक सूर्य में और प्रत्येक मानव में अभिव्यक्त होता है. इसीलिए कहा जाता है कि जो पुरुष सूर्य में है, वही मानव में है. वैदिक भाषा में केन्द्र को ही हृदय कहते हैं. केन्द्र को ही ऊर्ध्व और नाभि भी कहा जाता है. केन्द्र ऊर्ध्व और उसकी परिधि अधः है. चक्र की नाभि उसका केन्द्र और उसकी नेमि उसका बाह्य या महिमा भाग है. केन्द्र से चारों ओर रश्मियों का वितान होता है. केन्द्र को उक्थ भी कहते हैं, क्योंकि उस केन्द्र से चारों ओर रश्मियाँ उत्पन्न होती और फैलती हैं. इन रश्मियों को उक्थ की सापेक्षता से अर्क कहा जाता है. जिस प्रकार सूर्य से सहस्रों रश्मियां चारों ओर फैलती हैं, और फिर एक-एक से सहस्र-सहस्र होकर बिखर जाती हैं, यहां तक कि तनिक-सा भी स्थान उनसे विरहित या शून्य नहीं रह जाता और उनकी एक चादर—जैसी सारे विश्व में फैल जाती है, वैसे ही पुरुष के केन्द्र या उक्थ से अर्क या रश्मियों का विकास होता है.

सहस्रधा महिमानः सहस्रम्

अर्थात् केन्द्र भी महिमा सहस्ररूप से व्यक्त होती है. और फिर उसकी रश्मियाँ सहस्र-सहस्र रूप से बंट जाती हैं. जहाँ केन्द्र और परिधि की संस्था है, वहाँ सर्वत्र यही वैज्ञानिक नियम कार्य करता है. इस प्रकार जो पुरुष का आत्म-केन्द्र हृदय है, वह विश्वात्मा सहस्र या प्रजापति का ही अत्यन्त विलक्षण और रहस्यमय प्रतिबिम्ब है. ऐसा यह पुरुष प्रजापति की महिमा से महान् है. साढ़े तीन हाथ के शरीर में परिमित होते हुए भी यह त्रिविक्रम विष्णु के समान विराट् है. गीता में जो कहा है 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' वह इसी तत्त्व की व्याख्या है. वैदिक दृष्टिकोण में संदेह और अनास्था का स्थान ही नहीं है. यहां तो जो पूर्ण पुरुष है, जो समस्त विश्व में भरा हुआ है, वही पुरुष के केन्द्र या हृदय में भी प्रकट हो रहा है. वह पुरुष वामन भी कहा जाता है. विराट् प्राण की अपेक्षा सचमुच वह वामन है. यह जो मानव के केन्द्र या हृदय में वामन-मूर्ति भगवान् है इसे ही व्यान प्राण भी कहा जाता है. जो प्राण और अपान इन दोनों को संचालित करता और जीवन देता है. इस व्यान प्राण की शक्ति बड़ी दुर्धर्ष है. इसके ऊपर सौर जगत् के प्राण और पार्थिव जगत् के अपान इन दोनों का घर्षण या आक्रमण निरन्तर होता रहता है, किन्तु वह वामन-मूर्ति विष्णु विराट् का प्रतीक है. यह किसी तरह पराभूत नहीं होता. यदि यह वामन या मध्यप्राण हमारे केन्द्र में न हो तो सौर और पार्थिव प्राण-अपान का प्रचण्ड धक्का न जाने हमारा किस प्रकार विस्त्रंसन कर डाले. उपनिषद् में कहा है :

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन, इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ.

जिस केन्द्र या मध्यस्थ प्राण में ऊर्ध्वगति प्राण और अधोगति अपान दोनों की ग्रंथि है, उसकी पारिभाषिक संज्ञा व्यान है. उसी को यहां सांकेतिक भाषा में इतर कहा गया है. प्राण-आन दोनों उसी के आश्रय से संचालित होते हैं. और भी :

'मध्ये वामनमासीनं सर्वे देवा उपासते'.

यह केन्द्र या मध्यप्राण या वामन इतना सशक्त और बलिष्ठ है कि सृष्टि के सब देवता इसकी उपासना करते हैं. इसी दृढग्रन्थिबन्धन या बल से इतर सब देवों के बल सन्तुलित होते हैं. यह वामनरूपी मध्यप्राण ही समस्त विश्व में अपनी रश्मियों से फैल कर विराट् या वैष्णवरूप धारण करता है. विष्णुरूप महाप्राण ही हृदयस्थ वामन के रूप में सब प्राणियों के भीतर प्रतिष्ठित है. इसी के लिये कहा जाता है :

'स हि वैष्णवो यद् वामनः'—शत. ५.२.५४.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हृदयस्थ वामनरूपी विष्णु किसी प्रकार अवमानना के योग्य नहीं है. वही अविचाली सहज परिपूर्ण और स्वस्थभाव है. जो मानव इस केन्द्रस्थभाव में स्थिर रहता है, वही निष्ठावान् मानव है. जिसका केन्द्रविचाली है, कभी कुछ कभी कुछ सोचता और आचरण करता है. वही भावुक मानव है. केन्द्र स्थिर हुए विना परिधि या महिमामण्डल शुद्ध बन ही नहीं सकता. आत्मा, बुद्धि मन और शरीर इन चारों विभूतियों में आत्मा और बुद्धि की अनुगत स्थिति का नाम निष्ठा है और मन एवं शरीर की अनुगत स्थिति का नाम भावुकता है. प्राय: निर्बल संकल्प-विकल्प वाले मनुष्य मन और शरीरानुगत रहते हुए अनेक व्यापारों में प्रवृत्त होते हैं. जो बुद्धि मन को अपने वश में कर लेती है, उसी को वैदिक भाषा में मनीषा कहते हैं. जिस अविचाली अटल बुद्धि में पर्वत के समान ध्रुव या अटल निष्ठा होती है, उसे ही धिषणा कहते हैं. वैदिक भाषा में इसी अश्माखण प्राण के कारण इसे "धिषणा पार्वतेयी" कहा जाता है.

बारम्बार यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि भारतीय मानव धर्मभीरु होते हुए भी सर्वथा अभिभूत क्यों हैं ? उसका ज्ञान और कर्म इस प्रकार कुण्ठित क्यों बना हुआ है ? इस प्रश्न का मानवोचित समाधान यही है कि भारतीय मानव अत्यन्त भावुक हो गया है. उसने अपना प्राचीन निष्ठाभाव खो दिया है. वह सारे विश्व के कल्याण के लिये सौम्यभाव से आकुल हो जाता है, किन्तु आत्मकेन्द्र की रक्षा नहीं करता. उसका अन्तःकरण सौम्य होते हुए भी भावुक होने के कारण पिब्दमान या पिलपिला रहता है. वह दृढ़ कर्म और विचारों में सक्षम नहीं बन पाता. उसमें धर्मभीरुता तो होती है, किन्तु आत्मसत्यरूपी धर्मात्मकता नहीं होती. आत्मनिष्ठा पर अध्यारूढ़ होना सच्ची श्रद्धा है. उसका भारतीय मानव में अभाव हो गया है. अतएव उसके स्वतन्त्र व्यक्तित्त्व का विकास नहीं हो पाता. वह जिस किसी के लिये भी अपनी आत्मा का समर्पण तो करता है, किन्तु निष्ठापूर्वक ग्रहण कुछ भी नहीं करता. मनोगर्भिता बुद्धि से प्रवृत्त होने वाला मानव ही निष्ठावान् मानव है. ऐसे मानव का स्वयं केन्द्र विकसित होता है. केन्द्रबिन्दु का नाम ही मनु है. आत्मबीज का नाम ही मनु कहा जाता है. वह मनुतत्त्व जिस मानव में विकसित नहीं है, उसमें श्रद्धा का होना भी व्यर्थ है. श्रद्धा तो मनु की पत्नी है अर्थात् श्रद्धा मनु के लिये अशिति या भोग्य है. जिस समय आत्मकेन्द्र मनु तेजस्वी होता है, उस समय वह अपने ही आप्यायन या संवर्धन के लिये बाहर से श्रद्धारूपी अशिति या भोग्य प्राप्त करता है. मनु श्रद्धा का भोग करके ही पूर्ण बनते हैं. मनु और श्रद्धा की एक साथ परिपूर्ण अभिव्यक्ति ही सत्य का स्वरूप है, अर्थात् सर्वप्रथम मानव का आत्मकेन्द्र उद्बुद्ध होना चाहिए. उसमें सौर प्राण या इन्द्रात्मक ज्योति का पूर्ण प्रकाश आना चाहिए, तभी वह सच्चा मनुपुत्र या मानव बनता है और इस प्रकार आत्मकेन्द्र के उद्बुद्ध होने के बाद आत्म-बीज के विकास के लिये वह सारे विश्व से अपने लिये ग्राह्य अंश स्वीकार करता हुआ बढ़ता है. यही श्रद्धा द्वारा मनु का आप्यायन है. वैदिक भाषा में इसे ही यों भी कहा जाता है—अशीतिभिर्महदुक्थमाप्यायते.

केन्द्र या मनु 'महदुक्थ' है. उस महदुक्थ की तृप्ति या आप्यायन श्रद्धारूपी अशिति से होता है, जो उसे चारों ओर से प्राप्त होती है. इस प्रकार एक ही बात को कई रीति से कहा गया है. महदुक्थ और अशिति, मनु और श्रद्धा इन दोनों की एक साथ अभिव्यक्ति का नाम ही सत्य प्रतिष्ठातत्त्व है.

सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितम्

सत्य स्वयंप्रतिष्ठ होता है और सब कुछ सत्य का आधार पाकर प्रतिष्ठित बनता है. सत्य आग्नेय तत्त्व है, और श्रद्धा ऋत या स्नेह्य या आपोमय पारमेष्ठ्य तत्त्व है. सत्यपरायण बुद्धि सौर प्राण या इन्द्रतत्त्व को ग्रहण करती है. सूर्य की संज्ञा ही इन्द्र या रुद्र भी है. वेद की दृष्टि से अग्नि या शिव बड़े हैं, और सोम अग्नि का छोटा सखा सोम है. की आहुति अग्नि में पड़ती है, जिससे अग्नि सौम्य रहता है और अमृतधर्मा बनता है. यही प्रक्रिया मानव में भी निश्चित है. भावुकता सौम्यता का रूप है और निष्ठा आग्नेय प्राणात्मक बुद्धि का धर्म है. श्रद्धा का उद्गम मन में और विश्वास का उद्गम बुद्धि में होता है. विश्वास सौर तत्त्व और श्रद्धा आपोमय है. बुद्धि से भी परे और उससे भी उच्चतर तन्त्र का नाम आत्मा है :

यो बुद्धेः परतस्तु सः !

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रद्धासमन्वित बुद्धि ही उस आत्मतन्त्र तक पहुँच सकती है.

अलौकिक परिपूर्ण मानव ही मनुष्य जाति का युग-युगों में आदर्श रहा है. गीता में इसी मानव को लक्ष्य करके 'पुरुषोत्तम' कहा है. इसे ही अंग्रेजी में 'सुपरमैन' करते हैं. प्रकृत मानव और महामानव का जो अन्तर है, वही मैन और सुपरमैन का है. वेदव्यास ने जो :

नहि मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किंचित्.

इस लोकोत्तर सत्य का उद्घोष किया है, वह उसी महामानव, अति-मानव या लोकत्तरमानव के लिये है, न कि सर्वात्मना दीन-हीन और अशक्त बने हुए निर्बल मानव के लिये, जो परिस्थितियों के थपेड़ों से पराभूत होता हुआ इधर-उधर लक्ष्यहीन कर्म करता रहता है. इस प्रकार का जो बापुरा मनुष्य है वह तो शोक का विषय है. वस्तुतः मानव का उद्देश्य तो अपने उस स्वरूप की प्राप्ति है जिसमें विश्व का वैभव या समृद्धयानन्द और आत्मा का सहज स्वाभाविक उत्कर्ष या शान्त्यानन्द दोनों एक साथ समन्वित हुए हों. जो मानव इस प्रकार की स्थिति इसी जन्म में यहीं रहते हुए प्राप्त करता है, वही सफल श्रेष्ठतम मानव है. महाभारत के समस्त पात्रों में दो प्रकार के चरित स्पष्ट लक्षित होते हैं. एक वे हैं जो स्थिर धृति और दृढ़ निष्ठा से कभी च्युत नहीं होते और सदा दूसरों का उद्बोधन करते हुए देखे जाते हैं. दूसरे वे हैं जो भावुक हैं और बार-बार उद्बोधन प्राप्त करने पर भी जो उसे विस्मृत कर देते हैं और असत् कर्म में प्रवृत्त होते हैं, या निष्ठा से विपरीत केवल भावुकतापूर्ण कर्म करते हैं. पहली कोटि के पात्रों में केवल चार की गिनती हैं—कृष्ण, व्यास, भीष्म और विदुर. उनके अतिरिक्त युधिष्ठिर, अर्जुन आदि धर्मपथ के पथिक भी अपनी भावुकता के कारण विषमभाव को प्राप्त हो जाते हैं और कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के ज्ञान से कुछ समय के लिये शून्य या विचलित हो जाते हैं. इनके अतिरिक्त दुर्योधन, दुःशासन, शकुनि, कर्ण—जैसे मानव तो एकदम असत् निष्ठा के लिये कर्म कर रहे थे. उनका तो अन्त में विनाश निश्चित ही था. महाभारत जैसी लोकोत्तर धर्म-संहिता का लक्ष्य दुर्योधन कर्ण आदि पात्र नहीं हैं, क्योंकि वे अपने दुष्ट आग्रह को किसी भांति त्याग नहीं सकते थे, महाभारत के लिये समस्यारूप में तो युधिष्ठिर और अर्जुन हैं, जो धर्मपथ पर आरूढ़ होते हुए भी और धर्मपरायण निष्ठा रखते हुए भी बार-बार कर्त्तव्यपथ से च्युत होते हैं और विषम निष्ठा को प्राप्त हो जाते हैं और अपने ध्येय को भूल कर कुछ कर कुछ करने के लिये उतारू हो जाते हैं. कहाँ तो एक ओर अन्याय का प्रतिकार करने के लिये अर्जुन का युद्ध के लिये कृष्ण को सारथी बनाकर रणभूमि में जाना, कहाँ दूसरी ओर क्षणभर में ही युद्ध न करने के लिये भारी अवसाद को प्राप्त हो जाना. ऐसे ही युधिष्ठिर भी कई अवसरों पर आत्महत्या के लिये या सब-कुछ छोड़ कर वैराग्य-धारण करने के लिये तैयार हो जाते हैं. जिस व्यक्ति की निष्ठा ठीक है, जिसका आत्मकेन्द्र अविचलित है वह इस प्रकार की धर्मभीरु बातें नहीं कहेगा, जैसी अर्जुन या युधिष्ठिर ने कहीं; जो ऊपर से देखने में तो तर्कसंगत और पण्डिताऊ जान पड़ती हैं, किन्तु जो आत्मनिष्ठ सत्य-धर्म की दृष्टि से नितान्त विरुद्ध हैं.

जिसे महामानव या अतिमानव या पुरुषोत्तम या लोकोत्तर मानव कहा गया है, जो व्यक्ति समाज, राष्ट्र और समस्त मानवजाति की दृष्टि से हमारा आदर्श है, उस श्रेष्ठ मानव का इस विश्व में सच्चा स्वरूप क्या है ? उसका निर्माण कैसे हुआ है ? विराट् विश्व के कौन-कौन से तत्त्व उसके निर्माण में समाविष्ट हुए हैं ? उसका केन्द्र और उसकी महिमा क्या है ? विश्वात्मा षोडशी प्रजापति और केन्द्र प्रजापति का क्या सम्बन्ध है ?

कहने के लिये तो मानव का निर्माण छोटी सी बात है, किन्तु जैसा पहले कहा जा चुका है यह मानव सहस्र प्रजापति की प्रतिमा है. अतएव मानव के स्वरूप का यथार्थज्ञान विश्वस्वरूप की मीमांसा के विना अथवा सहस्रात्मा प्रजापति के स्वरूपपरिचय के विना सम्भव नहीं है. सृष्टि के आदि से सृष्टि के अन्त तक विश्व की कोई प्रक्रिया ऐसी नहीं है जिसका प्रतिबिम्ब मानव में न हो. संक्षेप में इसका सूत्र यह है कि जो षोडशी प्रजापति है वही मानव के केन्द्र में बैठा हुआ मनुप्रजापति या आत्मबीज है. षोडशी प्रजापति को ही त्रिपुरुष-पुरुष भी कहते हैं. अव्यय, अक्षर और क्षर ये ही सृष्टि के आधारभूत तीन पुरुष हैं, और चौथा इन तीनों से परे रहने वाला परात्पर पुरुष कहलाता है, जो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सर्वथा अव्यक्त और अमूर्त्त है, किन्तु जिसकी स्वाभाविकी ज्ञान, बल, क्रिया से यह सारा विश्व प्रवृत्त हो रहा है. इस प्रकार त्रिपुरुष समन्वित परात्पर पुरुष ही षोडशी प्रजापति का दूसरा नाम है. इन्हीं तीनों की विशेषताओं को और भी अनेक शब्दों द्वारा प्रकट किया जाता है, क्योंकि विश्व में भी वस्तुतः वे तीन ही नानाभावों को प्राप्त हो रहे हैं. उदाहरण के लिए अव्यय, क्षर का ही विकास मन, प्राण और भूत है. उन्हें ही जैसा पहले कहा गया है—प्रज्ञानात्मक, प्राणात्मा और भूतात्मा कहते हैं. इन्हीं तीनों से क्रमशः भावसृष्टि और विकारसृष्टि का जन्म होता है. इन तीनों में से प्रत्येक की पांच-पांच कलाएं हैं अर्थात् अव्यय की पांच कलाएँ, अक्षर की पांच कलाएं और क्षर की पांच कलाएं और इनसे अतिरिक्त स्वयं परात्पर पुरुष—इस प्रकार षोडशी प्रजापति कहलाता है. कहा है :

पंचधा त्रीणि त्रीणि तेभ्यो न ज्यायः परमदन्यदस्ति, यस्तद् वेद स वेद सर्वं सर्वा दिशो बलिमस्मै हरन्ति ।

क्षर, अक्षर और अव्यय इन तीनों में शुद्ध आत्मा केवल अव्यय है. वह प्रकृति सापेक्षता से ऊपर है. प्रकृति के दो रूप हैं—अव्यक्त और व्यक्त. व्यक्त रूप विश्व या क्षर है. प्रकृति का अव्यक्त रूप अक्षर पुरुष कहा जाता है. उसे ही वराप्रकृति कहते हैं. उसकी तुलना में क्षर सृष्टि अपरा प्रकृति है. जो क्षर सृष्टि है वही भौतिक जगत् है. भूत प्रजाधार पर प्रतिष्ठित रहता है. प्राण के विना भूत की स्थिति हो ही नहीं सकती. प्राचीन और अर्वाचीन दोनों दृष्टियों से यही सत्य सिद्धान्त है. प्रत्येक भूत या पिण्डात्मक अर्थ प्राणरूप शक्ति का ही व्यक्त रूप है. भूत और प्राण इन दोनों से ऊपर इनके भीतर समाविष्ट अव्यय पुरुष है, जो विश्वसाक्षी, असंग और अव्यक्त रूप है. वैदिक परिभाषाओं से प्रायः परिचय न होने के कारण उनके सान्निध्य में बुद्धि को व्यामोह होने लगता है. किन्तु जिस प्रकार विज्ञान की परिभाषाएं सुनिश्चित और सार्थक हैं, उसी प्रकार वैदिक सृष्टिविज्ञान ने भी अपने अभिधेय अर्थ का प्रकाश करने के लिये सुनिश्चित परिभाषा-शास्त्र का निर्माण किया था. उन पारिभाषिक शब्दों के द्वारा ही मन्त्रों में, ब्राह्मणों में और उपनिषदों में सृष्टि सम्बन्धी नाना तत्त्वों को स्पष्ट किया गया है. दुर्भाग्य से उस परम्परा से हम दूर हटते चले गए और ब्राह्मणग्रन्थों का पठन-पाठन भी केवल यज्ञीय कर्मकाण्डों तक सीमित रह गया. वैसे तो ऋषियों की दृष्टि से उन्होंने ब्राह्मणग्रन्थों में प्रायः इन अर्थों को आद्यन्त भर दिया है, किन्तु वे स्रोतग्रन्थ भी आज दुरूह बने हुए हैं.

प्रजापति को चतुष्पात् कहा गया है. ओंकार सर्वोत्तम गुह्य संकेत है. प्रणव भी चतुष्पात् है और प्रजापति की प्रतिमा मानव भी चतुष्पात् है. विश्व, विश्वकर्त्ता, विश्वसाक्षी, विश्वातीत इन चारों की ही संज्ञा क्षरात्मा, अक्षरात्मा, अव्ययात्मा और परात्पर है और इन्हें ही म, उ, अ एवं अर्धमात्रा युक्त प्रणव के प्रतीक से किया जाता है. 'विश्व क्या है? यहां से प्रश्नसूत्र का वितान करते हुए समष्टि और व्यष्टि रूप में पांच भौतिक विश्व के मूलकारण की जिज्ञासा और उसका समाधान किया गया है. इसके उत्तर में उपनिषदों की प्रसिद्ध अश्वत्थविद्या का निरूपण है जो वैदिक सृष्टिविद्या का ही दूसरा नाम है. इस प्रसंग में कई प्राचीन परिभाषाएं महत्त्वपूर्ण हैं. जैसे महावनर्ण, परात्पर, अश्वत्थरूपी महावृक्ष अव्यय, इसे मायी महेश्वर भी कहते हैं.

इस अश्वत्थविद्या में अव्यय को अमृत, अक्षर को ब्रह्म और क्षर को शुक्र भी कहा गया है. अव्यय अभिष्ठानकारण और भाव सृष्टि का हेतु है, अक्षर निमित्त कारण और गुणसृष्टि का हेतु है, एवं क्षर उपादानकारण तथा विकारसृष्टि का हेतु है.

मनुतत्त्व

अश्वत्थविद्या के अतिरिक्त दूसरा महत्त्वपूर्ण विषय मनुतत्त्व की व्याख्या है, जिसके कारण मानव मानव कहलाता है. मनु-तत्त्व को ही अग्नि, प्रजापति, इन्द्र, प्राण और शाश्वतब्रह्म इन नामों से पुकारा जाता है, जैसा कि मनु के श्लोक में प्रसिद्ध है, (मनुः १२।१२३). अध्यात्मसंस्था के अन्तर्गत चार प्रकार के मनस्तन्त्र हैं—श्वोवसीयस् मन, सत्त्वमन, सर्वेन्द्रियमन और इन्द्रिय मन. ज्ञानशक्तिमय तत्त्व को मन कहते हैं. इन चारों का सम्बन्ध चिदंश से है. उसी के कारण ये प्रज्ञात्मक बनते हैं. इनमें सृष्टि की जो मूलभूत कामना या काम है (कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्) वही सर्वजगत् के मूल में स्थित अतएव पुरुष के मूल में भी सर्वोपरि विराजमान हृदय विश्वात्मा मन या हृदयभाव से युक्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

काममय पुरुष ही श्वोवसीयस् मन है. यही पुरुषमन मौलिक मनुतत्त्व है जो सबका प्रशास्ता और सर्वान्तर्यामी है. इसी की ज्ञानमात्रा उत्तरोत्तर सुषुप्त्यधिष्ठाता सत्त्वमूर्ति महन्मन में, और वहां से इन्द्रियप्रवर्त्तक अशनायारूप सर्वेन्द्रिय मन में, और अन्त में नियतविषयग्राही इन्द्रियों के अनुगामी इन्द्रियमन में अवतीर्ण या अभिव्यक्त होती है. एक-एक इन्द्रिय का रूप रस घ्राण आदि नियत विषय इन्द्रियमन से गृहीत होता है. इसी को 'पंचेन्द्रियाणि मनःषष्ठानि' कहा जाता है. फिर पांचों इन्द्रियों का अनुकूल प्रतिकूल वेदनात्मक जो व्यापार है, वह सब इन्द्रियों में समान होने से सर्वेन्द्रियमन का विषय है. इसे अनिन्द्रिय मन भी कहा जाता है. जब चलते हुए किसी एक इन्द्रियविषय का अनुभव नहीं होता, तब भी सर्वेन्द्रियमन अपना कार्य करता रहता है. भोगप्रसक्ति के विना भी विषयों का चिन्तन यही मन करता है. सुषुप्तिदशा में अपने इन्द्रियप्राणों के साथ मन जब आनन्द की दशा में शान्त हो जाता है, जब सब इन्द्रिय-व्यापार रुक जाते हैं, वह तीसरा सत्त्वगुणसम्पन्न सत्त्वैकघन महान् मन कहा जाता है. उस सत्वमन से भी ऊपर चौथा अव्ययमन या सृष्टि का मौलिक चिदंश पुरुषमन है जिसे श्वोवसीयस् मन कहते हैं और जिसका सम्बन्ध परात्पर पुरुष की सिसृक्षामुखी कामना से है. वही अणु से अणु और महतो महीयान् है. केन्द्रस्थभाव मन है. वही उक्थ है. जब उसी से अर्क या रश्मियां चारों ओर उत्थित होती हैं तो वही परिधि या महिमा के रूप में मनु कहलाता है. यही मन और मनु का सम्बन्ध है यद्यपि अन्ततोगत्वा दोनों अभिन्न हैं.

स्वयम्भू स्वयं प्रतिष्ठित सृष्टि का मूल तत्त्व है. वह स्वयं विश्वसर्ग की क्रमधारा से परे रहता हुआ कभी किसी प्रकार अणुभाव में परिणत नहीं होता. उसे वृत्तौजा या वर्त्तुलाकार कहा गया है. किन्तु उससे ही जब सृष्टि की प्रवृत्ति आरम्भ होती है, तब त्रिवृत् भाव का विकास हो जाता है. त्रिवृत्भाव के ही नामान्तर मन, प्राण, वाक् हैं. उनके और भी अनेक पर्याय वैदिक-साहित्य में आते हैं. त्रिवृत् या त्रिक के उत्पन्न होते ही स्वयम्भू का एक केन्द्र तीन केन्द्रों में परिणत हो जाता है. इस त्रिकेन्द्रक सृष्टि का नाम ही अण्डसृष्टि है, जो कि ज्यामिति की परिभाषा में वृत्तायत आकृति वाली अण्डाकृति होती है. यही वैदिक भाषामें त्रिनाभिचक्र है. स्वयम्भू के बाद सृष्टिक्रमधारा में पांच अण्डों का जन्म होता है. उनमें पहला 'अस्त्वण्ड' है, जिसका सम्बन्ध परमेष्ठी या महान् आत्मा से है. स्वयम्भू से गर्भित परमेष्ठी त्रिवृत् भाव के प्रथम जन्म के कारण अण्डाकार बनता है. स्वयम्भू ने सर्व प्रथम कल्पना की कि यह सृष्टि उत्पन्न हो :

तद्भ्यमृषत् अस्तु इति.

इसी कारण यह पहला अण्ड अस्त्वण्ड कहलाया. स्वयम्भूब्रह्म को अपने गर्भ में रखने वाला परमेष्ठी का आपोमण्डल अस्त्वण्ड ही ब्रह्माण्ड कहलाता है. इसके बाद सूर्य से दूसरा हिरण्मयाण्ड उत्पन्न होता है. जैसा कहा जा चुका है कि व्यक्तभाव की संज्ञा हिरण्य है अतएव हिरण्मयाण्ड का सम्बन्ध अस्ति या गर्भित अवस्था से नहीं वरन् उस अवस्था से है जब कि गर्भ आगे चल कर जन्म ले लेता है, अथवा अव्यक्त व्यक्तभाव में आ जाता है. पहली स्थिति या अस्त्वण्ड का संबंध अस्तिभाव से है. दूसरी का संबंध जायते या जन्म से है. जन्म के अनंतर तीसरा भाव वर्द्धते अर्थात् वृद्धि से है. इसे ही पोषाण्ड कहते हैं जिसका संबंध भूपिण्ड या पृथ्वी से है. पुष्ट होने के अनंतर परिपाक की अवस्था आती है. जिसे 'विपरिणमते' इस शब्द से कहा जाता है इसे **यशोऽण्ड** कहते हैं. यह वस्तु का महिमाभाव है और इसका सम्बन्ध महिमा पृथ्वी से है. महिमा ही यश है. इसके अनन्तर प्रत्येक वस्तु क्षीण होने लगती है. वह अपक्षीयते अवस्था चन्द्रमा के विवर्त्त हैं और उसे **रेतोऽण्ड** कहा गया है. इन पांच ब्रह्माण्डों की समष्टि ही विश्व है और विश्वरूप समर्पक स्वयं भूब्रह्म स्वयं विश्वनिर्माण करने के कारण विश्वकर्मा कहलाता है. महान् विश्व से लेकर यच्च यावत् जितने भूत या उत्पन्न होने वाले पदार्थ हैं उन सबमें अस्ति, जायते, वर्द्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते—ये पांच भाव विकार अवश्य होते हैं. एक एक बीज में प्रकृति का यही नियम चरितार्थ हो रहा है. स्वयं बीज अस्त्वण्ड है. उनमें से अंकुर का फूटना अर्थात् अव्यक्त विटप का व्यक्तभाव में आना हिरण्यमयाण्ड है. भूपिण्ड से अपनी खुराक लेकर अंकुर का बढ़ना उसका पोषाण्डरूप है. फिर उस अंकुर का अपने सम्पूर्ण महिमाभाव को प्राप्त होकर पूरा वितान करना यह उस बीज का यशोऽण्डरूप है. दिक्चक्रवाल को व्याप्त करके जो महान् वटवृक्ष देखा जाता है, वह अति सूक्ष्म उसी वटबीज की महिमा या यश है. सर्वथा विपरिणाम या परिपाक के बाद प्रत्येक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शरीर में अपने ही जैसा उत्पन्न करने की एक शक्ति आती है, उसी का घनीभूत रूप रेत या बीज है. यही रेतोऽण्ड अवस्था है. इस अवस्था को प्राप्त करते ही प्रत्येक शरीर क्षयोन्मुख होने लगता है. यही अपक्षीयते-स्थिति है. ये पाँचों अण्ड व्यक्तभाव के ही परिणाम हैं. अव्यक्त जब कभी व्यक्तभाव को प्राप्त करेगा उसे पांच भावविकारों की क्रमिक स्थिति प्राप्त करनी होगी. शतपथब्राह्मण की यह अत्यन्त रहस्यमयी विद्या है. यह विषय अत्यन्त गूढ़ और क्लिष्ट है, किन्तु सृष्टिव्यापिनी निर्माणप्रक्रिया को समझने के लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भी है. अर्वाचीन शती का मानव विश्व की पहेली को वैज्ञानिक दृष्टि से समझना चाहता है. आधुनिक वैज्ञानिकों के प्रयत्न विश्वरहस्यमीमांसा को स्पष्ट करने में लगे हुए हैं.

सृष्टि का मौलिक तत्त्व क्या है? क्यों इसकी प्रवृत्ति होती है ? इसके मूल में कौन-सी शक्ति है? उसका स्पन्दन किस कारण से हुआ और किन नियमों से आज वह प्रवृत्त है ? शक्ति की प्राणनक्रिया और स्थूल भौतिक पदार्थों में परस्पर क्या सम्बन्ध है ? गति और स्थितिसंज्ञक द्विविरुद्ध भावों का जन्म क्यों होता है और उनका स्वरूप क्या है ? इत्यादि एक से एक रोचक और महत्त्वपूर्ण प्रश्न सृष्टिविद्या के सम्बन्ध में हमारे सामने आ खड़े होते हैं. उनके समाधान का सच्चा प्रयत्न आज के वैज्ञानिक कर रहे है. नित्य नूतन प्रयोगों द्वारा वे विश्व की मूलभूत शक्ति के स्वरूप और रहस्य को जानने में लगे हैं. वैज्ञानिक तत्त्ववेत्ताओं ने इतना अब निश्चय पूर्वक जान पाया है कि स्थूल भौतिक सृष्टि जिसे हम भूतमात्रा, अर्थमात्रा या वैदिक परिभाषा में वाक् कहते हैं, अन्ततोगत्वा शक्ति के स्पन्दन का ही परिणाम है. विश्व के सब पदार्थ मूलभूत शक्ति की रश्मियों के स्पन्दन से घनीभूत या व्यवस्थित हुए हैं. यह शक्ति विश्व की प्राणनक्रिया है. प्रत्येक भूत में यह विद्यमान है. बुद्धिमान् उसे हर एक भूत में देखते और पहचानते हैं—

भूतेषु भूतेषु विचिन्त्य धीराः

आज परमाणु के विशकलन ने यह सम्भव कर दिया है कि शक्ति के इस रहस्य की झांकी मानव को प्राप्त हो सकी है. किन्तु भूतमात्रा और प्राणमात्रा के सदृश ही तीसरी प्रज्ञानमात्रा भी है, जो समस्त सृष्टि में उसी प्रकार व्याप्त है जिस प्रकार भूतमात्रा और प्राणमात्रा. लोष्ठ, पाषाण आदि असंज्ञ वृक्ष-वनस्पति आदि अन्तःसंज्ञ एवं पशु-मनुष्य आदि ससंज्ञ भूतों में सर्वत्र अव्ययात्मा का श्वोवशीयस्मन अवश्य ही व्याप्त है. सबके जन्म, स्थिति और लय के पीछे मूलभूत त्रिक का नियम एक समान है. अवश्य ही विश्व में वैचित्र्य और विज्ञान की अनेक कोटियां पाई जाती हैं जिनका स्पष्ट अन्तर कीट-पतंग आदि की मानव से तुलना करने पर समझा जा सकता है. प्रजापति का जो अमृत और अनिरुक्त स्वरूप है, उसकी भाषा को समझने की जो स्थिति हो सकती है विज्ञान भी शीघ्रता से उस ओर बढ़ रहा है और विश्वविज्ञान के तत्त्व-वेत्ताओं की मौलिक चिन्तनप्रवृत्ति को देखते हुए कहा जा सकता है कि वह समय दूर नहीं है जब देश और काल के अतिरिक्त तीसरी सत्ता को भी मानने से ही विश्वनिर्माण की व्याख्या ठीक प्रकार करना सम्भव होगी. एक समय था जब देश के आयतन पर आधारित ज्यामिति द्वारा भूतों के निर्माण की मीमांसा की जाती थी.

वैज्ञानिकप्रवर आइन्स्टाइन ने इस विचार में महती क्रांति की और देश के साथ काल को भी सृष्टिनिर्माण के मौलिक तत्त्व रूप में सिद्ध किया. गणित और भौतिक विज्ञान की उपपत्ति द्वारा यह तत्त्व सबके लिये मान्य हुआ. देश और काल सृष्टि के निर्माण का अनिवार्य चौखटा है. इसी सांचे में पड़कर भूतसृष्टि ढल रही है. देश और काल को ही नाम और रूप कहा गया है. शतपथ के अनुसार नाम और रूप दोनों बड़े यज्ञ हैं जिनके पारस्परिक विमर्द या संघर्ष से यह सब कुछ हो रहा है. शक्ति की संज्ञा ही यज्ञ है, किन्तु नाम और रूप दोनों अभ्व यक्ष कहे गये हैं, जो होकर भी नहीं है (भूत्वा न भवतीति) उसे अभ्व कहते हैं. नामरूपात्मक सारा विश्व वैदिक दृष्टि से अभ्व ही है. वैज्ञानिक की दृष्टि में भी यह सारा विश्व शक्ति के मूल आधार पर तरंगित नामरूप के अतिरिक्त कुछ नहीं है, जो देश और काल के टकराने से अस्तित्व में आया है, आ रहा है और आता रहेगा. वह जो मूलभूत शक्ति है उसके सम्बन्ध में वैज्ञानिक को भी अभी बहुत कुछ जानना है. विश्वरश्मियां (कास्मिक रेडियेशन कहाँ से आती हैं, उनका स्रोत क्या है ? शक्ति का जो समान वितरण इस समय हो रहा है, उसकी उल्टी प्रक्रिया भी क्या कभी सम्भव है कि जिसके कारण महासूर्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैसे ज्वलन्त शक्ति-केन्द्रों का पुनः निर्माण हो सके ? एक बार शक्ति का विलय हो जाने पर इसकी पुनः प्रवृत्ति का क्या कोई हेतु और सम्भावना है ? इत्यादि प्रश्न विज्ञान के संप्रश्न हैं. जिनका संकेत मानव का आह्वान उस ओर निश्चित रूप से कर रहा है, जो विश्व का मूल कारण है और जिसके विषय में सबसे बड़ा रहस्य यह है कि वह इस विश्व से बाहर रहता हुआ भी इसकी रचना करके इसी में समाया हुआ है.

'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'.

वैज्ञानिकों के सामने सुमेरु के समान दुघर्ष सृष्टि का संप्रश्न बना हुआ है, जैसा मनीषिप्रवर मॉरिस मेटरलिंक ने कहा है 'सत्य तो यह है कि इतना अनुसन्धान और बौद्धिक मन्थन हो जाने के बाद भी अभी विश्व-मानव उस स्थिति में नहीं पहुँचा पाया है जहाँ एक भी परमाणु, एक भी घटक कोष या एक भी मानस का पूरा रहस्य या उसकी प्रक्रियाओं का पूरा भेद हमें मिल पाया हो. अभी तक चारों ओर रहस्य ही रहस्य भरा हुआ है, किन्तु मानव प्रजापति का नेदिष्ठ रूप है. उसे तत्त्व की प्राप्ति के विना सन्तोष नहीं हो सकता. शक्ति के स्वरूप और जीवन के स्रोत एवं मन के स्वरूप को जान कर ही मानव के प्रश्न का समाधान हो सकेगा. कहा जाता है कि विश्ववैज्ञानिक आइन्स्टाइन अपने जीवन के अन्तिम क्षणों में विश्व की गूढ़ पहेली को समझने में अतिव्यस्त थे और उनके दृष्टिपथ में यह सत्य आने लगा था कि देश और काल के अतिरिक्त भी कोई शक्ति है जो सृष्टिप्रक्रिया में अनिवार्य अंग के समान कार्य कर रही है और उसकी सत्ता को भी सम्भवतः गणित की उपपत्तियों द्वारा व्यक्त करना सम्भव होगा. यह भविष्य के प्रश्न हैं जिनके विषय में अधिक ऊहापोह सम्भव नहीं, किन्तु वैदिक विज्ञान की जो सामग्री हमारे सामने है उसका जब बुद्धिगम्य विवेचन हम देखते हैं, तो यह ध्रुव रूप निश्चित हो जाता है कि उस किसी सत् चित् आनन्द तत्त्व ने अपने त्रिवृत् स्वरूप द्वारा इस सर्ग का वितान किया है और वह स्वयं इसमें गूढ़ है, वही अव्यक्त से व्यक्त भाव में आया है, साथ ही समझने वालों को इसका भी आभास स्पष्ट मिलता है कि वैदिक—विज्ञान और अर्वाचीन विज्ञान इन दोनों की शब्दावली और परिभाषाओं में चाहे जितना भेद हो, मूलतत्त्व की व्याख्या में बहुत कुछ सादृश्य है. ऊपर कही हुई पंचाण्ड-विद्या उसका एक छोटा-सा उदाहरण है. जन्म वृद्धि और ह्रास की मौलिक प्रक्रिया जो विज्ञान और दर्शन में समानरूप से मान्य है वही पंचाण्डविद्या का विषय है. जिसे अंग्रेजी में औवल या आयतवृत्त कहते हैं, वही अण्ड है. एक अविशेष केन्द्र से तीन विशिष्ट केन्द्रों का विकास यही सृष्टि है. त्रिकभाव का नाम ही विश्व है. 'त्रिवृद् वा इदं सर्वम्' यह वेद की परिभाषा विज्ञान को भी मान्य है. इसी त्रिवृत् भाव की संज्ञा मनु, प्राण, वाक् है जिसकी बहुत प्रकार की व्याख्या वैदिकसाहित्य में पाई जाती है. उस व्याख्या के भिन्न-भिन्न स्तर हैं. जैसे इस सृष्टि के विभिन्न क्षेत्र या स्तर हैं. यह बात भी स्मरण रखनी चाहिए कि विज्ञान के नियम के समान ही मूलभूत वैदिक नियम भी अत्यन्त सरल हैं. अध्यात्म, अधिदैवत्त और अधिभूत के स्तरों पर उन नियमों को समझने का प्रयत्न ब्राह्मण ग्रन्थों में पाया जाता है. वैदिक विज्ञान का एक कठिन पक्ष भी है, वैदिक विज्ञान एक सूत्र या तन्तु नहीं, पूरा पट है. एक तन्तु को पकड़ते ही पूरे पट को सम्हालने का साहस यदि बुद्धि में न हो तो बुद्धि कातर हो जाती है और दिङ्मूढ़ स्थिति में पड़ जाती है. किस दशा में कहां गति की जाय यह स्पष्ट दिखाई नहीं पड़ता, किन्तु यह ऐसी कठिनाई नहीं है जिसका परिहार न हो सके. यह तो सृष्टि की ही विचित्रता है, उसमें सब कुछ ओतप्रोत है. एक सामान्यातिसामान्य अंकुर समस्त विश्व का प्रतीक बना हुआ है. उसका कृत्स्न ज्ञान कोई प्राप्त करना चाहे तो उसे एक ओर समस्त विज्ञान को और दूसरी ओर दर्शन के ज्ञान को मथना होगा. ज्ञान और विज्ञान को आत्मसात् करके ही अन्तिम तत्त्व का दर्शन किया जा सकता है. ज्ञान शिरोमूला दृष्टि है और विज्ञान पादमूला दृष्टि है. बट में बीज का दर्शन और बीज में बट का दर्शन ये दोनों ही ज्ञानसाधन के प्रकार हैं.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org